

**THE TIMES OF INDIA**

Date: 26-09-16

Save the IIMs

Forcing top tier institutions to reserve faculty jobs will hurt higher education

The quality of a country's human capital determines how well it does. Only India believes it can be an exception. There is no other way to make sense of the government's decision to enforce reservation in faculty jobs in IIMs, after it had ordered IITs and central universities to toe the line. This is not going to help the Narendra Modi government's stated goal of crafting a "regulatory architecture" to create 20 world class teaching and research institutions in India. Enforcing reservations in faculty jobs is a way of concealing governance failure at all levels in education.

There is a crisis in higher education and HRD minister Prakash Javadekar's proposed solution will worsen matters. It should worry the government that the highest ranked Indian institution, IISc Bengaluru, is 147th in the QS World University rankings. Only one other institution, IIT Delhi, is ranked in the top 200. India needs to enhance the quality of its higher education and this can only be done by improving the work environment for faculty and opening it up to competition. Reservations do the very opposite by closing off competition. Moreover, reservations at faculty level are tantamount to an admission that reservations at lower levels have failed in equalising opportunity. If a policy has failed to deliver results, why multiply its applications? Poor governance at school level and muddleheaded policies in higher education have hurt young people. To foster an environment of job creation, it is critical to produce employable Indians. This should be Javadekar's motto. If at all, the last tier where reservations are permitted should be when students enter college. It is now time to roll back the reservations juggernaut, else caste agitations like the Maratha, Jat and Patel movements are India's future.

THE ECONOMIC TIMES

Date : 26-09-16

No creationism works in higher education

The government's concern about the state of the higher education is both timely and laudable. However, its plan to set up "world-class universities" is not. Instead of setting up a handful of institutions that are world class, the focus should be on creating the enabling environment for universities and higher education institutions to become globally competitive.

The idea that it is possible to set up "world-class" universities is flawed. There is no way to ensure that a university is world class at inception. It may have the best infrastructure but the true measure of a university is the quality and quantity of knowledge it produces and disseminates. The most important input is faculty and the



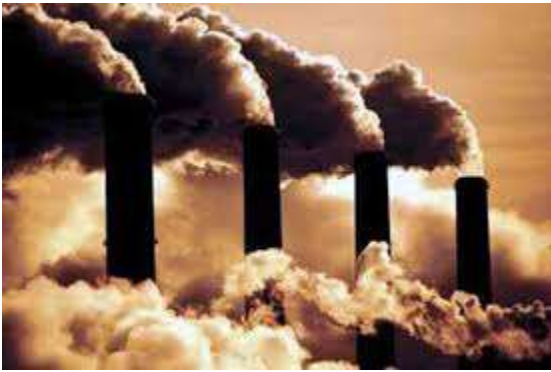
research they undertake and supervise determines the quality of the university. This, in turn, impacts the quality of students, quantum of research grants. This is an evolutionary process and cannot be achieved overnight. The focus should be on enabling an ecosystem. This requires overhauling the existing higher education regulatory mechanism. It needs to move away from an input-focused, inspection-driven system to one that focuses on outcomes. Universities must have functional and financial autonomy. The regulator needs to ensure that universities meet the floor of standards, live up to the claims they make, and ensure equity and access. Exempting the proposed world-class universities from the oversight of an ineffective regulator will not guarantee their success. Universities require an ecosystem to flourish. That requires overhauling the higher education sector, and the first step is a dynamic, responsive and effective regulator. The exercise will not be easy, and it will take time, but in the end it will be a system that is likely to lift all boats, not just a few.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date : 26-09-16

जलवायु परिवर्तन वार्ता प्रतिरोध के साथ चर्चा

जलवायु परिवर्तन पर हमें अंतरराष्ट्रीय मंच पर आरोप-प्रत्यारोप का मुकाबला करना चाहिए साथ ही चर्चा में भी शामिल रहना चाहिए, ताकि हम आने वाली पीढ़ियों के लिए बेहतर विश्व सुनिश्चित कर सकें। बता रहे हैं नितिन देसाई



जलवायु परिवर्तन पर पेरिस समझौता तब प्रभावी होगा जब कम से कम 55 फीसदी अधोहस्ताक्षरी उसे स्वीकृत करेंगे। ये वे लोग हैं जो 55 फीसदी ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन के लिए जिम्मेदार हैं। सितंबर के मध्य तक 39 प्रतिशत उत्सर्जन के लिए जिम्मेदार 28 देशों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिए। इनमें बड़े उत्सर्जकों में से दो नाम चीन और अमेरिका शामिल हैं। इन देशों ने सितंबर के आरंभ में जी20 देशों की शिखर बैठक में अपने अनुमोदन की घोषणा की। संभव है कि भारत सरकार इस दिशा में धीमी गति से काम करती रही हो क्योंकि जलवायु संबंधी न्याय की दृष्टि से उसकी अपनी कुछ चिंताएं हैं। साझा लेकिन बंटी हुई जिम्मेदारी के

सिद्घांत को शिथिल करने और जीवन शैली में बदलाव इसमें शामिल हैं। भारत सरकार का इन बातों पर जोर देना सही है लेकिन उसे जलवायु के अनुकूल नीतियों को अपनाना नहीं छोड़ना चाहिए।

बीते कुछ सालों के दौरान कई देशों और गैर सरकारी जलवायु परिवर्तन कर्मियों ने अभियान चलाया कि इससे जुड़ी कार्रवाई का दायित्व भारत और चीन पर डाला जाए क्योंकि अपने विकास की प्रक्रिया में वे बहुत अधिक उत्सर्जन कर रहे हैं और करेंगे। परंतु जलवायु परिवर्तन के जोखिम में केवल उत्सर्जन ही शामिल नहीं है बल्कि वातावरण में जमा ग्रीनहाउस गैस भी इसके लिए उत्तरदायी है। वैश्विक कार्बन बजट इस प्रकार तैयार किया जाना चाहिए कि वातावरण में कार्बन का स्तर स्वीकार्य रहे। भारतीय शोधकर्ताओं के एक पत्र के मुताबिक बमुश्किल आधा कार्बन स्पेस ही बचा है। जलवायु परिवर्तन पर नियंत्रण की बात करें तो इस दिशा में तार्किक आकलन करने के लिए न केवल विकसित देशों के

वार्षिक उत्सर्जन पर नियंत्रण करना होगा बल्कि कार्बन खपत कार्यक्रमों के जरिये नकारात्मक उत्सर्जन के लक्ष्य तक पहुंचना होगा केवल तभी विकासशील देशों के लिए कार्बन गुंजाइश तैयार हो सकेगी। लेकिन वे ऐसा नहीं करेंगे। लेकिन अपना बोझ चीन, भारत तथा अन्य विकासशील देशों पर डालने की उनकी कोशिश की आलोचना होनी चाहिए। इस पर सार्वजनिक बहस भी होनी चाहिए।

आरोप प्रत्यारोप के इस खेल का एक पहलू चीन और भारत में होने वाली कोयला खपत भी है। यह सच है कि कोयला सबसे अधिक कार्बन उत्सर्जन वाला जीवाश्म ईंधन है और अकेले चीन में दुनिया की कुल कोयला खपत का 50 फीसदी होता है। लेकिन केवल कोयला ही क्यों? क्या हमें सारे जीवाश्म ईंधन से होने वाले उत्सर्जन को अपनी चिंता में शामिल नहीं करना चाहिए? अगर ऐसा किया जाए तो चीन की हिस्सेदारी 50 से घटकर 30 फीसदी हो जाएगी। इसमें भारत को शामिल करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उसकी ईंधन खपत 2013 में वैश्विक खपत के बमूशिकल छह फीसदी थी। लेकिन पश्चिम जगत ऐसे आकलन बदस्तूर जारी रखे हैं। हाल में पर्यावरण क्षेत्र के एक थिंकटैंक की ओर से आई रिपोर्ट के मुताबिक भारत के भविष्य के उत्सर्जन में उन परियोजनाओं को भी शामिल कर लिया गया है जो अभी महज विचार के स्तर पर हैं। भारत ने जलवायु परिवर्तन की प्रक्रिया में जीवनशैली के बदलाव पर भी जोर दिया है। पेरिस समझौते में इनमें से कुछ का उल्लेख भी है। लेकिन विकसित देशों के व्यवहार की बात करें तो अमेरिका जीवनशैली में कोई बदलाव लाने का इच्छुक नहीं दिख रहा है। फिलहाल पूरा जोर घरेलू उत्पादन प्रक्रिया में उत्सर्जन कम करने पर केंद्रित है। यह बात भी इस सोच को बढ़ावा देती है। यह विभिन्न देशों को समस्या का तकनीकी हल तलाश करने के लिए भी प्रोत्साहित करती है। घरेलू खपत के कार्बन पर असर के दौरान जीवनशैली में बदलाव पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इसके अलावा इस धारणा को भी समाप्त करना होगा कि विकासशील देश ही कार्बन उत्सर्जन में मौजूदा बढ़ोतरी के लिए अकेले जिम्मेदार हैं।

वर्ष 2004 में अधिकांश यूरोपीय देशों में खपत आधारित उत्सर्जन का 30 प्रतिशत से अधिक हिस्सा यानी करीब चार टन प्रति व्यक्ति, और अमेरिका में करीब 10 प्रतिशत हिस्सा यानी करीब 2.8 टन प्रति व्यक्ति आयातित था और इसे चीन और भारत जैसे निर्यातक देशों के उत्पादन उत्सर्जन के रूप में पेश किया गया। भारत को बहुपक्षीय, द्विपक्षीय, सरकारी और गैरसरकारी जलवायु परिवर्तन संबंधी तमाम वार्ताओं में इस बात को उठाना चाहिए। भारतीय थिंक टैंकों और जलवायु परिवर्तनकर्मियों को संसाधन मुहैया कराए जाएं ताकि वे वैश्विक जलवायु सम्मेलनों में अपनी बात पुरजोर तरीके से रख सकें। हमें प्रतिरोध के साथ-साथ यह भी दिखाना होगा कि हम अपनी दलीलों के प्रति गंभीर हैं। ऐसा करना हमारे ही हित में है। हकीकत में एक भारतीय थिंकटैंक की रिपोर्ट में यह दिखाया गया कि जलवायु अनुकूल ऊर्जा नीति को ऊर्जा सुरक्षा, ऊर्जा पहुंच और स्थानीय प्रदूषण प्रबंधन के सहयोगी लाभ के रूप में निर्मित किया जा सकता है।

कोयले के प्रयोग की बात करें तो कोयला आधारित ताप बिजली संयंत्र इस तरह बनाए जाते हैं कि उनको बेस लोड स्टेशन के रूप में चलाया जाए। लेकिन सौर, पवन या परमाणु ऊर्जा भी हमारी बिजली क्षमता में शामिल हो रही है। ऐसे में दुविधा उत्पन्न होना लाजिमी है। ऐसे नवीकरणीय ऊर्जा का प्रयोग बढ़ाना ही बुद्धिमानी है। परमाणु ऊर्जा संयंत्रों को तकनीकी वजहों से बेस लोड स्टेशन के रूप में चलाना होगा। जलविद्युत भी आपूर्ति की कमी दूर करने का किफायती तरीका है लेकिन ऐसी क्षमताएं सीमित हैं। ऐसे में जीवाश्म ईंधन आधारित स्टेशनों की संतुलन स्थापित करने में अहम भूमिका होगी। ऐसे में हमें कोयले के बजाय गैस आधारित ताप बिजली घरों पर ध्यान देना चाहिए। ऐसा इसलिए क्योंकि दुनिया भर में गैस कीमतों में गिरावट आ रही है और गैस टर्बाइन कोयला आधारित संयंत्रों के बजाय कहीं अधिक लचीले

हैं। गैस आयात पर निर्भरता यकीनन ऊर्जा सुरक्षा के लिए दिक्कत बन सकती है। कोयले पर भी यही बात लागू होती है क्योंकि हम कोयले के शुद्ध आयातक होंगे।

हमें जीवनशैली के मुद्दे पर भी अपनी प्रतिबद्धता दिखानी होगी। हमारी आबादी का 5 फीसदी हिस्सा यानी करीब 6 करोड़ लोगों की जीवनशैली ऐसी है कि जिसकी ऊर्जा खपत विकसित देशों के समान है। हमें कर और नियामकीय नीतियों का ऐसा क्रियान्वयन करना होगा कि की इस समूह की जीवनशैली बदली जा सके। लू, सूखा और बाढ़ समेत जलवायु परिवर्तन के कारण होने वाली अतियां हमारी आने वाली पीढ़ियों को दिक्कत में डालेंगी। इसलिए हमें वैश्विक स्तर पर हो रहे आरोप प्रत्यारोप का तो जवाब देना ही चाहिए साथ ही जलवायु परिवर्तन को साधने की दिशा में उचित प्रयास करने चाहिए।



डेटा से जुटाया जा सकता है आटा

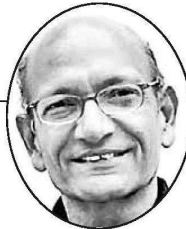
डिजिटल इकॉनामी पर चुटकी लेते हुए आरजेडी सुप्रीमो लालू प्रसाद यादव ने पूछा है कि गरीब डेटा खाएगा या आटा? प्रश्न गंभीर है क्योंकि डेटा के भूत ने हमारी अर्थव्यवस्था को जकड़ लिया है। डिजिटल इकॉनामी के कारण हो रही उथल-पुथल को समझने के लिए हमें पीछे जाना होगा। 18वीं सदी में स्टीम इंजन के बल पर कोयला खानों से पानी निकालना तथा गहराई से कोयले की ट्रॉली को खींचना संभव हो गया। कोयला निकालने की लागत कम हो गई। बाजार में कोयला सस्ता हो गया। शीघ्र ही कपड़ा मिलों ने करघों को स्टीम इंजन से चलाना शुरू कर दिया। अब दस गुना कपड़ा बुना जाने लगा।

मैनचेस्टर के पावरलूम पर बना कपड़ा सस्ता पड़ने लगा, जिसका भारत में आयात हुआ। इस सस्ते कपड़े के कारण हमारे जुलाहे बेरोजगार हो गए, लेकिन दूसरे आविष्कारों ने नए रोजगार भी बनाए। बिजली से ट्यूबवेल चलाए गए तो सिंचित क्षेत्र तेजी से बढ़ा। ट्रैक्टर से अधिक जमीन में खेती करना संभव हो गया। बेरोजगार मजदूर खेती में खप गए, लेकिन उनकी आर्थिक स्थिति में कोई उछाल नहीं आया। उनके घर में बिजली पहुंची, लेकिन वेतन कम रहे। इस प्रकार स्टीम इंजन के आविष्कार ने भारत में जुलाहों को संकट में डाला और उस संकट से उबरे तो फिर गरीबी के स्तर पर ला दिया।

मजदूर की आय

जिस प्रकार स्टीम इंजन ने लोगों का रोजगार छीन लिया, उसी प्रकार फोटो कॉपी मशीन ने टाइपिस्टों का, ओला ने टैक्सी स्टैंडों का, कंप्यूटर ने सांख्यिकी गणित करने का, और ईमेल ने डाकिये का रोजगार हड़प लिया है। जिस प्रकार ट्यूबवेल और ट्रैक्टर ने खेत मजदूरों के लिए नए रोजगार बनाए थे, उसी प्रकार फोटोकॉपी, कॉल सेंटर, मोबाइल डाउनलोड आदि में नए रोजगारों का सृजन हो रहा है। जिस प्रकार खेत मजदूर के घर बल्ब जलने का चमत्कार हुआ था, उसी प्रकार आज श्रमिकों के घर में फ्रिज, टीवी और मोबाइल पहुंच गया है। लेकिन जिस प्रकार खेत मजदूर की आय जुलाहे की आय की तरह कम बनी रही, उसी प्रकार मोबाइल हाथ में लिए श्रमिक की आय कम बनी हुई है। दूसरी तरफ बड़ी कंपनियों के प्रॉफिट में लगातार इजाफा हो रहा है। टैक्सी स्टैंड का धंधा चौपट है पर 'ओला' मालामाल है।

समस्या वैश्विक है। अमेरिका की सरकारी संस्था यूएस एजेंसी फॉर इंटरनेशनल डिवेलपमेंट के 2014 के अध्ययन के अनुसार डिजिटल इकॉनामी से वैश्विक आय में वृद्धि हुई है पर अमेरिकी श्रमिकों की औसत आय में गिरावट आई है। विश्व बैंक ने वर्ल्ड डिवेलपमेंट रपट (2016) में कहा है कि डिजिटल इकॉनामी से गरीब की



आज एक नई प्रकार की अर्थव्यवस्था बन रही है। कारखाने अब मुट्टी भर श्रमिक रोबोटों तथा कंप्यूटरों द्वारा संचालित होंगे। पूरी जनता की जरूरतों के कपड़े, जूते, किताबों एवं मोबाइल फोन इत्यादि का उत्पादन वे ही कर देंगे। आम आदमी के रोजगार सिकुड़ेंगे, जैसा कि विकसित देशों की तमाम रपटें बता रही हैं। लेकिन इस दुरुह स्थिति को स्वर्णिम दुनिया में बदला जा सकता है।



तुलना में अमीर को अधिक लाभ हुआ है। विकसित देशों के संगठन 'ऑर्गनाइजेशन फॉर इकॉनामिक कोऑपरेशन एंड डिवेलपमेंट' के अनुसार श्रम बाजार में मध्यम स्तर के रोजगार समाप्त हो रहे हैं। एक तरफ ऊंचे वेतन देने वाले मुट्टी भर हाई स्किल के रोजगार हैं तो दूसरी तरफ कम वेतन देने वाले रोजगार हैं। श्रम की आय न्यून बनी हुई है।

फैक्ट्रियों में ऑटोमेटिक मशीनों के उपयोग से श्रम की मांग में गिरावट आ रही है। सामान्य

श्रमिक की दिहाड़ी अपने स्थान पर टिकी हुई है। उसके जीवन स्तर में सुधार मुख्यतः माल के सस्ता हो जाने से हुआ है, जैसे 800 रुपये में उसे मोबाइल उपलब्ध हो गए हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि जनता को डिजिटल स्किल्स दिला दें तो वे डिजिटल इकॉनामी में उन्नत रोजगार प्राप्त कर सकेंगे और उनकी आय में वृद्धि होगी। इस संभावना पर भी स्टीम इंजन प्रकाश डालता है। बीती दो सदियों में अपने देश में शिक्षा का भारी विस्तार हुआ है, लेकिन शिक्षित बेरोजगारों का जमावड़ा हो गया है क्योंकि एक कर्मी द्वारा बनाया गया सॉफ्टवेयर 100 टेलीफोन ऑपरेटरों का रोजगार छीन लेता है। अतः डिजिटल स्किल से व्यक्ति विशेष को अवश्य लाभ होगा पर सामान्य श्रमिक के लिए यह घाटे का ही सौदा रहेगा।

आज एक नई प्रकार की अर्थव्यवस्था बन रही है। कारखाने अब मुट्टी भर श्रमिक रोबोटों तथा कंप्यूटरों द्वारा संचालित होंगे। पूरी जनता की जरूरतों के कपड़े, जूते, किताबों एवं मोबाइल फोन इत्यादि का उत्पादन वे ही कर देंगे। आम आदमी के रोजगार सिकुड़ेंगे, जैसा कि विकसित देशों की तमाम रपटें बता रही हैं। एक तरफ अमीरी का जोर है तो दूसरी ओर बेरोजगारी और मायूसी। लेकिन इस दुरुह स्थिति को स्वर्णिम दुनिया में बदला जा सकता है। उत्पादन के लिए श्रम की जरूरत कम होती जा रही है। अब तक की मान्यता थी कि व्यक्ति को जीविका के लिए श्रम करना जरूरी है। पर जब अर्थव्यवस्था को श्रम की जरूरत ही नहीं है तो श्रमिक श्रम कहा करेगा? इसलिए जीविका को श्रम से अलग करना पड़ेगा। कार्ल मार्क्स ने सोचा था कि सोशलिस्ट इकॉनामी में श्रम की जरूरत नहीं रह जाएगी। लोग अपने पसंद का कार्य करेंगे। ऐसी परिस्थिति बन रही है।

संगीत या गेम्स

जरूरत है कि देश के हर नागरिक को जीविका के लिए पर्याप्त आय बिना श्रम के उपलब्ध करा दी जाए। उसकी जीविका की गारंटी हो। इसके बाद उसकी इच्छा है कि वह पार्क में चिड़िया का संगीत सुनेगा या मोबाइल पर गेम्स खेलेगा। यदि जीविका को श्रम से जोड़े रखा गया तो श्रम के अभाव में जीविका संकट में आएगी, जो सामाजिक अशांति का कारण बनेगी। लालूजी के प्रश्न का उत्तर यह है कि गरीब आटा ही खाएगा पर डाटा के जरिए उसे आटा खाने के लिए धन उपलब्ध कराया जा सकता है। डाटा को नकारने से काम नहीं चलेगा। डाटा पर लगातार लगाकर आटे की व्यवस्था करनी चाहिए।

भरत शुनशुनवाला

(लेखक आर्थिक मामलों के विशेषज्ञ हैं)

राष्ट्रीय सहारा

Date : 25-09-16

चुनौती बनता बुढ़ापा

वृद्ध लोग ज्ञान, कौशल और अनुभव की दृष्टि से मूल्यवान होते हैं। समाज का दायित्व बनता है कि ऐसी व्यवस्था बने कि उन्हें मुख्य धारा से जोड़ा जाए, उनका स्वस्तिभाव बना रहे और सामाजिक, शारीरिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से गतिशीलता का अवसर मिले। इक्कीसवीं सदी में एक मौन क्रांति जनसंख्या की संरचना को लेकर आ रही है। इसके तहत नियंतण स्तर पर एक गंभीर बदलाव आ रहा है, जिसमें वृद्धों की संख्या अन्य आयु वर्गों की तुलना में बढ़ती नजर आ रही है। बुढ़ाती जनसंख्या नियंतण प्रवृत्ति का रूप ले रही है। समाज की संस्थाओं के ताने-बाने में इसके फलस्वरूप बड़ी उठापटक मची हुई है। यह स्थिति अब विकसित और विकासशील दोनों ही तरह के देशों में दिख रही है। मनुष्य की अधिकतम आयु 120 वर्षों की मानी जाती है। मृत्यु का विचार डरावना होता है और हर कोई इससे भागता है, बचना चाहता है। वैसे दीर्घायु होना सामाजिक-आर्थिक प्रगति का द्योतक है। अच्छी चिकित्सा सुविधा, तकनीकी संसाधनों की उपलब्धता और अच्छे पोषण वाले आहार से ऐसा बदलाव आ रहा है। जन्म दर और मृत्यु दर में कमी आने के साथ इस तरह का बदलाव स्वाभाविक है। जीवन का विस्तार बढ़ रहा है। भारत की औसत जीवन प्रत्याशा अब 68.89 वर्ष हो रही है (पुरुषों की 67.46 वर्ष और स्त्रियों की 72.61 वर्ष)। बुढ़ाना सामान्य, असामान्य या फिर सफलता वाला हो सकता है। सफल वार्धक्य तब कहेंगे, जब व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक और सामाजिक सक्रियता अधिकतम स्तर पर बनी रहे। व्यक्तियों के बीच बुढ़ापा अलग-अलग ढंग से आता है। खुद एक व्यक्ति में भी बौद्धिक, सामाजिक और शारीरिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन भिन्न मात्रा में और भिन्न रूपों में आता है। सच तो यह है कि बुढ़ापा (एजिंग) जन्म के साथ ही शुरू हो जाता है और आजीवन चलता रहता है। हां, इसका रूप और तीव्रता बदलती रहती है। बाद में जो गिरावट आती है, उसके अनेक कारण होते हैं। मसलन जीवन शैली, शिक्षा, व्यवसाय, बौद्धिक और सांस्कृतिक कार्यकलाप, तनाव, सामाजिक भागीदारी आदि। परिवेश से मिलने वाले और व्यक्ति द्वारा चुने गए, दोनों तरह के तत्व काम करते हैं। यदि व्यक्ति जीवन विस्तार में अधिकतम रूप से व्यवस्थित न किया जाए तो वृद्धावस्था में जोखिम बढ़ जाता है और व्यक्ति मधुमेह, स्मृतिलोप, मस्तिष्क आघात और सामाजिक अलगाव आदि से ग्रस्त हो जाता है। इसलिए केवल “सुखायु” नहीं बल्कि “हितायु” भी होनी चाहिए। व्यक्ति को अपने जीवन में लोक कल्याण को भी जगह देनी चाहिए। आम तौर पर वृद्धों को लेकर कई गलत धारणाएं प्रचलित हैं, जैसे बुद्धि और सर्जनात्मकता कम होना या अवसादग्रस्त होना आदि। अक्सर उन्हें बीमार और असहाय माना जाता है। वे समाज पर भार स्वरूप होते हैं। पर वृद्ध लोग ज्ञान, कौशल और अनुभव की दृष्टि से मूल्यवान होते हैं। समाज का दायित्व बनता है कि ऐसी व्यवस्था बने कि उन्हें मुख्य धारा से जोड़ा जाए, उनका स्वस्तिभाव बना रहे और सामाजिक, शारीरिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से गतिशीलता के अवसर मिले। उनकी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो, जीवन में उद्देश्य दिखे, वे सेवा करें, उनके सामने लक्ष्य रहे और सफलता की अनुभूति हो। वे आत्मनिर्भर जीवन जिएं जन कल्याण में योगदान दें। संयुक्त परिवार के टूटने से सामाजिक संरचना बदली है। एकल परिवारों में वृद्धों को स्थान नहीं मिलता है। अतः आर्थिक सुरक्षा, स्वास्थ्य, आवास आदि की व्यवस्था द्वारा वृद्धों की भागीदारी के मार्ग में आने वाली

बाधाएं दूर कर उन्हें संलग्नता और गरिमा के साथ भागीदारी का अवसर दिया जाना आवश्यक है। वृद्धावस्था में सफल जीवन के लिए जीने की शैली, सजग मानसिकता, तनाव प्रबंधन, अपनी देखभाल स्वयं करना, सहयोग प्राप्त करना, शारीरिक कार्य से जुड़े रहना, नियमित स्वास्थ्य की जांच आदि के लिए मानव संसाधन में निवेश जरूरी होगा। संख्या और अनुपात में वृद्ध जन बढ़ रहे हैं। ऐसे में हमें यह विचार करना होगा कि वृद्ध व्यक्ति को किस तरह सामान्य जीवन का हिस्सा बनाया जाए? उसकी भूमिका क्या हो? उनका अकेलापन और अलगाव कैसे दूर करें? पीढ़ियों की परस्पर निर्भरता को कैसे स्थापित करें? यह जरूरी है कि वृद्ध जनों को कठिन परिस्थिति में भी डटे रहने, सामाजिक सम्बन्धों को जिलाए रखने, अपने में आत्मविश्वास और आशावादिता लाने और सीमाओं के साथ जीने के लिए सरकारी और गैर सरकारी हस्तक्षेप जरूरी है। इस तरह की सठती लाने के लिए समाज के स्तर पर सोच बदलनी होगी और व्यवस्था का पुनराविष्कार करना होगा, जिसमें वृद्ध को मुख्य धारा का सक्रिय अंग बनाया जा सके।

प्रसंगवश

गिरीश्वर मिश्र



Date: 24-09-16

Six wise persons

Constitution of monetary policy committee promises an institutional arrangement more transparent, accountable.

The formal constitution of a Monetary Policy Committee (MPC), which will decide on the Reserve Bank of India's benchmark interest rates, ends an over seven-decade-long tradition that vested this power with the governor. The three academic economists appointed by the Centre will join three representatives from the RBI to the MPC, with the governor being only one out of the six responsible for setting the central bank's policy rates. The current governor, Urjit Patel, is known to keep a low profile, unlike his illustrious predecessor, Raghuram Rajan, and, to that extent, may seem to fit more easily into the new institutional arrangement where the governor, while having a casting vote in the event of a tie, cannot veto a majority decision.



This is welcome, given the inherent inadvisability of vesting absolute power in any institution with a single person, howsoever eminent he or she may be. The existing system for monetary policy formulation did provide for a Technical Advisory Committee. But its advice was not binding on the central bank. The MPC — which may well decide whether interest rates are to be cut or not in the next policy review on October 4 — has its work cut out. On the face of it, its mandate is simple — to implement the new framework agreement mandating the central bank to achieve a retail inflation target of four per cent, plus or minus two percentage points. But that is easier said in a country where a significant chunk of inflation has to do with food prices, on which there is not much that monetary policy can do. Nor is there clarity on what failure to meet the target would entail — apart

from sending a report to the Centre stating reasons and the proposed remedial actions. Can the RBI — or the MPC, in this case — do anything about inflation that is also a result of fiscal profligacy or poor supply management at the level of the Centre and states?

But having said that, an MPC should still lead to a more transparent method of determining interest rates, based on the opinion of not one, but six wise persons. That, within a modern monetary policy framework, should also ensure more accountability when it comes to delivering on inflation. Such accountability in other countries such as the US — which has a 12-member Federal Open Market Committee, of which seven are selected by the US President and also ratified by the senate — extends to bringing in legislative oversight on policy-making. It would be interesting to see how the new MPC evolves in India. If the contribution of external experts adds more credibility to the process of interest rate setting — and this is complemented by regular consultation between Mint Street and North Block on coordination of monetary and fiscal policy actions — there could be no better collateral outcome from the new institutional arrangement.



Date : 24-09-16

समझौते के सामने

उड़ी में हुए आतंकी हमले में जिस तरह देश के अठारह फौजियों की जान गई, उसे आतंक के स्रोतों के प्रति भारत के जरूरत से ज्यादा उदार रवैये के नतीजे के तौर पर भी देखा गया। मगर इस बार देश भर में जो आक्रोश पैदा हुआ, उसके असर से सरकार खुद को निरपेक्ष नहीं रख सकती थी। इसलिए अगर सुरक्षा के मामले में उच्च स्तरीय बैठकों में इस मसले पर अपनाई जाने वाली रणनीति और कूटनीति में पाकिस्तान को अलग-थलग करने की कोशिश से लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच अतीत में किए गए समझौतों पर इसका असर पड़ रहा है तो यह स्वाभाविक है। यही वजह है कि भारत ने 1960 में दोनों देशों के बीच हुए सिंधु जल समझौते से अलग होने के संकेत दिए हैं। इस समझौते के तहत दोनों देशों के बीच पानी के बंटवारे की मौजूदा व्यवस्था अगर किन्हीं हालात में टूटती है तो इसका पाकिस्तान को व्यापक नुकसान उठाना पड़ सकता है।

गौरतलब है कि ब्रिटिश सत्ता से आजादी के बाद जब पाकिस्तान के सामने पानी का संकट गहराने लगा और उसे लगा कि युद्ध की स्थिति में उसका पानी रोका जा सकता है, तो उसने भारत से गुहार लगाई और अंतरराष्ट्रीय सहयोग हासिल करने की कोशिश शुरू कर दी। फिर 1960 में विश्व बैंक की मध्यस्थता के बाद दोनों देशों के बीच सिंधु जल समझौता हुआ, जिसके तहत तीन पूर्वी नदियों- व्यास, रावी और सतलुज पर भारत का नियंत्रण है, वहीं तीन पश्चिमी नदियों- सिंधु, चेनाब और झेलम के ज्यादातर पानी पर पाकिस्तान का हक है। पाकिस्तान के सामने समस्या यह है कि उसके अधिकार वाली नदियां भी भारत के जम्मू-कश्मीर से होकर ही वहां जाती हैं। इसके बावजूद समझौते के मुताबिक भारत सिंधु नदी का केवल बीस फीसद पानी इस्तेमाल कर सकता है, जबकि करीब अस्सी फीसद पानी पाकिस्तान को मिलता है। यही वजह है कि इसे दुनिया का सबसे उदार समझौता माना जाता है।

पाकिस्तान की ओर से बार-बार समस्या खड़ी करने से लेकर आतंकवादियों को शह और शरण देने को लेकर भारत में यह मांग अक्सर उठती रही है कि पाकिस्तान को अपने यहां के आतंकी शिविरों को खत्म करने के लिए बाध्य करने के

मकसद से सिंधु जल समझौता रद्द कर देना चाहिए। पर इस समझौते के मानवीय पहलू के मद्देनजर कई बार हालात बहुत संवेदनशील और तनावपूर्ण हो जाने के बावजूद भारत ने यह सख्त कदम नहीं उठाया। दरअसल, पाकिस्तान का करीब पैंसठ फीसद भौगोलिक क्षेत्र सिंधु नदी घाटी का हिस्सा है। इस इलाके में सिंचाई, कृषि, ऊर्जा उत्पादन से लेकर पेयजल तक की व्यवस्था का अधिकतर हिस्सा सिंधु पर ही निर्भर है और इस नदी को पाकिस्तान की जीवन रेखा कहा जाता है। यानी अगर इस मसले पर भारत ने कोई सख्त रुख अख्तियार किया और समझौते को रद्द करने का फैसला किया, तो पाकिस्तान के सामने खड़ी होने वाली समस्या का अंदाजा लगाया जा सकता है। मगर यह समझना मुश्किल है कि इतनी बड़ी निर्भरता होने के बावजूद पाकिस्तान का रवैया इस कदर भारत को परेशान करने वाला क्यों बना हुआ है। ऐसे तथ्य बार-बार सामने आते रहे हैं कि भारत में आतंकवाद की समस्या अगर इस कदर सिर चढ़ कर बोल रही है तो इसके पीछे आतंकियों को पाकिस्तान की ओर से मिलने वाली सहायता और समर्थन है। लेकिन भारत हो या कोई और देश, कब तक अपने खिलाफ ऐसी गतिविधियों को बर्दाश्त कर सकता है।



Date: 24-09-16

नदी की धार

कूटनीति में हर चीज साफ-साफ बताई नहीं जाती- नई दिल्ली में विदेश मंत्रालय के प्रवक्ता का इतना ही कहना जैसे काफी था। उसके बाद से अटकलों की बाढ़ आ गई है। भारत से बहकर पाकिस्तान जाने वाली छह बड़ी नदियों में इस दौरान जितना पानी नहीं बहा होगा, उससे ज्यादा शक-शुबहे और आशंकाएं बहने लगी हैं। यह उन नदियों की बात है, जिनके पानी के बंटवारे की संधि 1960 में ही हो गई थी और भारत-पाकिस्तान के बीच लगातार तनाव और युद्धों के बावजूद यह चलती रही, यहां तक कि युद्ध के दौरान भी यह लागू रही। इस संधि को दो तरह से देखा जाता है। एक तरफ, कुछ लोग इसे दो तनावग्रस्त देशों के बीच हुए एक आदर्श समझौते के रूप में देखते हैं, तो दूसरी तरफ, कुछ लोगों का मानना है कि दरिया के पानी की यह संधि एक समझौता कम है और भारत की दरियादिली का उदाहरण ज्यादा।

इस समझौते के तहत भारत को जितना पानी पाकिस्तान को देना चाहिए, वह उससे ज्यादा पाकिस्तान के हवाले कर देता है। इस संधि के तहत भारत सिंधु, चेनाब और झेलम के 20 फीसदी पानी का इस्तेमाल और भंडारण कर सकता है, लेकिन भारत ने इसके इस्तेमाल की कोई पक्की व्यवस्था तक नहीं बनाई, इसलिए सारा पानी बहकर पाकिस्तान चला जाता है। भारत ने इसके लिए बगलिहार और किशनगंगा की दो विद्युत परियोजनाएं जरूर बनाई हैं, जिनके खिलाफ पाकिस्तान अंतरराष्ट्रीय पंचाट में चला गया था, जहां पर उसे कुछ भी हासिल नहीं हुआ।

अब जब दोनों देशों का तनाव सब्र की सारी हदें पार कर गया है, तो यह सवाल उठ रहा है कि क्या पाकिस्तान को सबक सिखाने के लिए भारत को पानी रोक लेना चाहिए? पिछले कुछ दिनों से रक्षा विशेषज्ञ और राजनयिक भारत सरकार को जो तरह-तरह की सलाहें दे रहे हैं, उनमें यह एक प्रमुख सलाह है। यह भी कहा जा रहा है कि युद्ध से पाकिस्तान को उतना परेशान नहीं किया जा सकता, जितना उसका पानी रोककर किया जा सकता है। यह सच है कि अगर भारत नदियों से बहकर जाने वाले पानी की मात्रा कम कर दे, तो पाकिस्तान के एक बड़े इलाके में सूखा पड़ सकता है। हालांकि सरकार

ने अभी यह साफ-साफ नहीं कहा कि वह ऐसा करने जा रही है, लेकिन उसने इससे इनकार भी नहीं किया है। एकाएक यह करना शायद आसान भी नहीं होगा, पानी को रोकने और उसके उपयोग के इंतजाम करने में समय लग सकता है। फिर भारत की दुनिया में यह छवि रही है कि वह जिन संधियों पर हस्ताक्षर करता है, उनका ईमानदारी से पालन भी करता है। सरकार को भी यह तय करना होगा कि क्या वह इस छवि को तोड़ना चाहेगी? हालांकि यह भी सच है कि इस तरह की संधियां शांति के लिए होती हैं, और जब शांति भंग होती है, तो इनका कोई अर्थ नहीं रहता।

सच तो यह है कि भारत और पाकिस्तान का जो भूगोल है, वह दोनों देशों को शत्रु बनने से रोकता है। बल्कि यह भी कहा जाता है कि यह भूगोल एक ही संस्कृति और एक ही समाज के लिए बना है। किसी ऐतिहासिक कारण से यह भूगोल दो देशों में बंट गया है, और ये दोनों देश अब आपसी सहयोग की बुनियाद पर ही आगे बढ़ सकते हैं। यही वह बात है, जिसे पाकिस्तान कभी नहीं समझ सका, वह भारत को हरदम नुकसान पहुंचाने की युद्ध-प्रिय मानसिकता में जी रहा है। यही वजह है कि नदियों का ज्यादातर पानी हासिल करने के बाद भी वह विकास के पैमाने पर काफी पिछड़ा है और विदेशी मदद के भरोसे ही जी रहा है। अगर वह अपनी इस मानसिकता और आतंकवाद को शह देने वाले रवैये को नहीं बदलता, तो आने वाले दिनों में पानी ही नहीं, उसे और कई परेशानियों का सामना करना पड़ सकता है।
